कल कहा था किसी ने

अग्निमीले पुरोहित यज्ञस्य देवमृत्विजम् ।
होतार रत्नधातमम् ॥

ऋ म 1/सु 1/म 1

(O Energy ! Thou art the Container of the entire Cosmos since Eternity Thou art the bestower of Sacrifice Knowledge and technology O 'Respectable One ! Thou art the source of light seasons and all that is beautiful Thou art the Creator and preserver of all the precious stones elements I bow to thee)

Rig Veda

कल कहा था किसी ने

चद्रभानु भारद्वाज

सप्रेषण प्रकाशन
751, मिश्रराजा का रास्ता
जयपुर–302 001

संप्रेषण लोकोदय ग्रन्थांक 002

कल कहा था किसी ने (कविता) © चन्द्रभानु भारद्वाज,

प्रथम संस्करण 1993

प्रकाशक संप्रेषण प्रकाशन 751 मिश्रराजा का रास्ता जयपुर-302 001

लेजर टाइपसैटिंग लेजर लिंक 1328 राजपूत हाउस उनियारों का रास्ता
चान्दपोल बाजार जयपुर-1

मूल्य पैंसठ रुपया।

KAL KAHA THA KISI NE (Poetry) by C.B. Bhardwaj Price : Rs 65 =

यह कृति
मूर्धन्य कवि त्रिलोचन शास्त्री
और शमशेर बहादुर सिंह
को सादर

आभार

इस कृति के प्रकाशन मे सर्वश्री प्रेमचद्र गोस्वामी लब्धप्रतिष्ठ कवि हेमन्त शेष और
अशोक भारद्वाज अनूप भारद्वाज का विशेष सहयोग रहा, साथ ही ब्रजलता भारद्व
और पुष्पलता गोस्वामी ने प्रूफ शोधन में सहायता की। श्री मनोज कुमार शर्मा द्वार
सज्जा और लेजर टाइप सैटिंग और मुद्रण बेहद सुरुचिपूर्ण किया गया, कवि इन सभी
अत्यन्त आभारी है।

चद्रभानु भारद्व

अनुक्रम

—

कविता के ये अव्यक्त वर्ष

कविता का अपना समय, समय—जब वह कवि के अनुभव, स्वभाव और ऐन्द्रिक सघनता को स्पर्श कर प्रकट होती है। इस समयकाल मे कवि के चारों ओर जो घटनाएँ घटती हैं, वे ही कथ्य रूप और भाषा के माध्यम से कविता को उपस्थित करती है। वस्तुत कविता का आधार सम्पूर्ण जीवन है।

कविता कभी नयी या पुरानी नहीं होती। नयी या पुरानी होती है कवि की चेतना। फिर भी मेरी कविता का यहाँ अपना एक समय है। सन् 65 से 85। समय के इस छोटे से पडाव में मुझमे बहुत कुछ घटा, मेरे चारो ओर घटा–मेरी जिन्दगी के इन वर्षों ने मुझे काफी प्रभावित किया कचोटा, घसीटा और मुझे मेरे 'होने' और 'होते रहने' का अहसास कराया। इस कालखड मे मुझे वहुत से दोस्त मिले जिनके प्यार और व्यवहार ने मुझे मेरी ज़मीन पर खड़े रखा। इन साहित्यिक और गैर साहित्यिक मित्रो और परिचितों ने मेरे तेवर के रेशे–रेशे को अलग कर मुझे जाँचा। मेरे अन्दर के गहरे सैद्धान्तिक विश्वास, आस्था या जीवन दर्शन को जो केवल वैचारिक न रह कर जिन्दगी जीने की पूरी शैली बन चुके थे खूब सहा और सराहा। अनेक बार उत्साहवश मुझे ज़मीन से उठाकर कहीं 'ऊपर' बिठाने की चेष्टा भी की लेकिन हर बार मेरी जीवन शैली आड़े आती रही और मैं कभी भी ऊपर नहीं बैठ सका। जोड़–तोड और जुगाड़ मेरी समझ के बाहर ही रहे। जुगाड़परक सस्थाओ के लिए मैं अछूत बना रहा, आज भी हूँ। लेकिन कविता जारी रही। पलक झपकते ही ये वर्ष कविता के साथ–साथ चलते रहे।



कविता ने मेरे जीवन की पुनर्रचना की।

शरीर की यह इद्रियाँ अनोखी हैं। आँखे सौन्दर्य को देखना चाहती हैं, कान माधुर्य को श्रवण करना चाहते हैं– कर्कश या कटु वाक्य इन्हे नहीं सुहाते। जीभ सुपाच्य मधुर पकवान को पाने के लिए व्याकुल नाक सुगधित स्वच्छ और स्वस्थ प्राणवायु को सूघने के लिए आतुर अर्थात शरीर की सारी इद्रियाँ सुख–सौन्दर्य को ही प्राप्त करने की इच्छुक रहती हैं। कोई विरल ही इनसे मुक्ति पा कर रचना के साथ होता है।

कविता ने मेरे इद्रियबोध को अलग से प्रभावित किया। मेरे सामने था एक अनगढ़ और प्रियतम रूप सौन्दर्य।

मेरी आँखें अब उस सौन्दर्य को देखना चाहती थीं कि पाव कैसे बने, हाथ कैसे बने, और मुख, धड़—सम्पूर्ण शरीर की रचना भी कैसे हुई ?

मेरी आँखे बस उस सम्पूर्ण को देखना चाहती थीं। वह सम्पूर्ण जैसे बसन का उन्माद, वर्षा की उत्कठा और शरद् की तृप्ति।

आज वह सब है—वह सम्पूर्ण है। मेरे सामने और आपके सामने भी पूर्णता तक पहुची हुई।

अपूर्ण रात
अपूर्ण गली
अपूर्ण शहर
सब कुछ है।
और गौर से देखे तो कुछ भी नही—
सिवाय उन आखो के
जो आज अभी अकेली सी
किसी अदृश्य को
दृश्य मे बदलने के लिए आतुर हैं।

कविता। तुम तक पहुँचते ही मेरी 'सज्ञा' लौट आती है। मैं बार-बार तुमसे टकरा रहा हूँ गुँथा हुआ तुममे मथा हुआ तुममे, तुममे पूरी तरह विलीन। अब तुम और मैं दो नहीं मैं और तुम एक हैं इस वनवास में।

एक वर्ष 1970 जब हेमन्त की लम्बी रातो मे खून हवा में बज रहा था— मुझे खूब याद हैं तुम्हारा रूप विकास की ऊँचाइयो पर था और तब मेरे सामने वाली क्यारियो में पानी उछल-उछल कर नाच रहा था। क्यारियो से पानी मैदानो मे हिलकोरे ले रहा था—मैदान के अन्तर मे तपन गहन, भीतर था ग्रीष्म का ताप भी। तिरस्कार सी सुलगती आग अहम् के अदृश्य अग्निशैल और खून हवा मे बजता रहा बजता रहा बराबर

अपनो से विद्रोह—अपने सर्वस्व से घात जो झेले इसलिए कि नयी सृष्टि का—सारा आकाश का दायित्व अपने ऊपर ओढ़ना था। घात लगा कर बार-बार—सारा आकाश बारुद के गोलो से भरा हुआ। पर जो ओढ़ना था वह ओढ़ा रावण के हथियारों ने रावण का साथ नहीं दिया—मैंने तब पूछ लिया क्या हाल है सन् 1972।"

अपूर्णता से पूर्णता पर नज़र जमी रही। कमल है—वह हाथों मे बना रहे। वीणा हैं—वह उगलियों मे झनकार लेती रहे। पर कानों में जो शोभा शिरीष की है वह गदराये शतदल की नहीं।

और पूर्णता का एक प्रतीक मेरे समक्ष—वही प्रकट होकर बोली मेरी सुनो। मैं अब सुनाकर ही मानूगी। अब अधिक देर मुझे सहन नहीं।

उसने कहा वह कहती रही। खूब कहा। मैंने उसे भरपूर आत्मसात् किया—पूरे मनोयोग से।

उसे लिखा, ठीक उसी रूप में जैसा कहा गया था। कोई रद्दोबदल नहीं की। क्यो करता आखिर। मूल ढाँचे को या मूल रूप को बदल देने से क्या कोई असली छवि बन सकती है ? मुझे अब लग सकता है कि उसके मात्र मुझमे विलीनीकरण से ही मैं कवि बना रह सकता हू उन सस्कृति और देश का कवि जिसका कुछ अपना आधड़पन है—वेणी में गेहू की बाले, कानो में शिरीष का फूल। औघड़पन–शरद् की शुभ्रता और मुक्तभाव से हँसने पर उतारू, हेमन्त की कविता—रातों को सितारो के नयनों से देखने का व्रती, यही औघड़पन। और कोई नहीं।

और कोई भी नहीं
रेखा और दीवार की बीच
किताब और चाकू के बीच
दस्ताने और माचिस के दरम्यान

कविता। झल लो ताप जो अन्तर के जेठ का आग–भभूका है। कभी कोई निष्कर्ष तो निकलेगा तो निकलेगा ही, गलत ढग से पढ़ाये गए पाठ को कभी कोई अस्वीकार करेगा ही।

□□

आप पूछ सकते हैं कि एक कवि जो जीवन भर कविता के साथ जीता है वह अपनी कविता को केवल कुछ वर्षों तक ही सीमित क्यो रखना चाहता है ? प्रश्न पूछना वाजिब है, वह इसलिये कि कविता मात्र कुछ वर्षों तक ही सीमित नही रह सकती। कविता का जीवन कवि के जीवन से ज्यादा लम्बा और महान् होता है। कोई काल–क्रम, उस काल के तत्कालीन प्रभावो और प्रेरणाओ की ओर उस काल की कविताओ के माध्यम से सकेत करता है जो कवि को रूप और दिशा देने में सहायक सिद्ध होता है।

इन कुछ वर्षों मे काफी कुछ घटा, काफी कुछ बदला है। देश के वातावरण मे काफी कुछ उथल–पुथल हुई है, वहीं एक समग्र जीवन ने भी खड–खड टूटकर एक विचित्र सा चित्र कविता को दिया है। वे चित्र सम्भवत इन कविताओ में अपनी साकेतिक चित्रमयता के साथ उतरे हैं। वे चित्र भी इन कविताओ में मिलेंगे जिनमे जीवन की अर्थवत्ता व लोकोन्मुखता अन्तर्निहित है।

इन चौदह वर्षों में निज सुख–दुःख के बीच मार्क्सवाद के सुखद निष्कर्षों के साथ लोक–मगल की भावना कवि का मुख्य अभीष्ट रहा है जिसने कवि की चेतना को निरन्तर शक्ति देते हुए रचना की मूल आवश्यकता को बराबर बनाए रखा है।

वह जो मेरे सामने है, उसको उसके मन का सा सवाद मिला और मुझे लगा कि सिवाय एक कविता के यहाँ और कुछ भी नहीं है।

❐

कविता का यह दूसरा सकलन जो पहले सकलन का ही शुद्ध मुद्रित रूप है, पाठकों को समर्पित है। इसमे 1965 से 1985 तक की कुछ कविताए हैं, काफी कुछ तो अभी विभिन्न छोटी–बड़ी पत्र–पत्रिकाओं में बिखरा पड़ा है। कुछ कविताएँ 1986 के बाद की थीं शामिल हैं।

इस सकलन की कुछ कविताए माध्यम (प्रयाग), ज्ञानोदय (कलकत्ता), शोधस्वर (बरेली), हम (जयपुर), नीरा (जयपुर) राजस्थान पत्रिका (जयपुर), 'धर्मयुग' (बम्बई), कादम्बिनी (दिल्ली) वैनगार्ड (देहरादून), आयाम (जयपुर) नीतिमान (जयपुर), आलोक (राज विश्वविद्यालय) सबल राष्ट्र (भरतपुर) मधुमती (उदयपुर), लोक सम्पर्क (जयपुर), आदि पत्र–पत्रिकाओं मे समय–समय पर प्रकाशित होती रही हैं। कुछ कविताएँ आकाशवाणी से भी प्रसारित हुई हैं। कवि ने इन रचनाओं को इन सब से साभार यहाँ सकलित किया है।

काफी कुछ कविताए उनके लघु–पत्रिकाओं मे भी छपी हैं। कवि उन सभी सपादको का आभारी है।

कुछ कविताए प्रदेश एव प्रदेश के बाहर आयोजित कवि–गोष्ठियों मे भी पढ़ी गई हैं।

लब्धप्रतिष्ठ कवि हेमन्त शेष ने इन कविताओं का बडे श्रम से चयन कर मुझे राहत दी है। उन्होने जहाँ तहाँ भाषा और सकेतो को छुआ है और एक सुचारु क्रम दिया है कवि इनका आभारी है।

अन्तत , मूल्याकन प्रबुद्ध पाठको के जिम्मे है।

❐

अभी-अभी

अभी अभी
इस तरफ
टूटा है
पहाड़ की चट्टान से एक टुकड़ा
गर्भमण्डल की उल्काओं से एक विक्षिप्त तारा
अचड़
कुछ बदचलन हवाएं
झपट्टा लेती हुई
चीलें और कौओं सी—
टूटा है और एक तारा
तूफान
घनघोर बारिश का सैलाब
बहते हुए आदमियों पर
साँपों के बच्चे
उखड़े खूंटो को गले मे लटकाये [illegible]
गाय भैंस बकरी भेड़े—
तबाही से चीखते हुए छप्पर
खपरैल
भारी भरकम इमारतें
पछाड़ खाते इतिहासी महल
पहाड़ पर बनी निगरानी चौकिया
सेहत पीते बाग और बगीचे
ज़मीन अब चटक कर खुल गयी है
ईश्वर यहा आदमी का नाम जपने लगा है
यह सृष्टि
अब गर्भाधान की तैयारी मे है।

पता नहीं कौन था

सड़े हुए शव के चारों ओर
लिखा था—
'आजादी' । 'भ्रातृत्व' ।
काट कर फिर लिखा था—
भूचाल ।
और इसे इतिहास समझा रहा था—
हत्यारा ।
पता नहीं कौन था ।

स्लीपिंग पिल्स

आज़ादी ?
धर्म साधना की सीढ़ी है
देह के ब्लैक बोर्ड पर
पोछा हुआ एक नाम है—
स्लीपिंग पिल्स ।

अलकनंदा

साय साय
शायद यह हवा का शोर है
नहीं—नहीं
कहीं पहाड़ की चोटी पर
कोई कच्ची मिट्टी का
गीला मटका
टूट गया है—
और ढेर सारा पानी
नीचे उतर आया है
लोग अब उसे
अलकनन्दा कहने लगे हैं ।

यह दवा का असर है ।

ये कुहरा के फूल
अब नहीं छिपते
बाँस के पेड़ की रगड़ से
इस जंगल में आग लग चुकी है
रस्सी की तरह ऐंठती
धुएँ की स्याह लपटों में
वे कौए चीख चुके हैं
यहाँ अब रखा ही क्या है ।
लेकिन नर्स कहती है—
यह दवा का असर है ।

कर्क रेखा पर

क्षण
पल
और कोस
नापते हुए कोस दर कोस
वे
ढूँढते हैं कोई सुगन्ध
सीने की हाँफ
मुँह से निकलते हुए
लेकिन चक्कर निरन्तर घूमता है
उनके सर पर
और वह पीठ और पेट तक
घूमते हैं
धुआश्रित
कर्क रेखा पर ।

पृथ्वी की पूजा अभी शेष है

सुनूँगा
तुम्हारी
भी चीख
रुको कुछ क्षण और
पृथ्वी की पूजा
अभी शेष है।

घोर अंधकार के बीचोबीच

अंधकार का गहरा निर्झर
गिरने लगा है
ऐसे क्षण
चमक
पारदर्शिता गत्यात्मकता
उपजने लगी है
अजूबा थरथराहट से
नथुने फूलने लगे
अग्नि दबी है अभी भी
टँगे हैं अधरों में
गरीब के कलेजे अभी भी।
मुझे भरोसा है पूरा
कि आसन्न संध्या की अंतिम
किरणों में
इस मानवचिता मानवी के
द्वार
खड़े हो तुम
अभी भी
समय है—स्वीकार लो
पलायन के बीज
माँग लो क्षमा काल पात्र से
हिंस्र प्रलाप के बीच
शायद यही अन्तिम पुण्यवाणी हो
तुम्हारी सभ्यता की।

मेरी कथा

मेरी कथा
यह शहर है
धँसी हुई मिट्टी है
नदी का बाँध टूट जाने की कथा है यह

मेरी कथा
वृक्ष के सूख जाने की
सूखकर
मिट्टी हो जाने की कथा है

मेरी कथा
घटना से हटकर
बन जाने कथा है

कहाँ तक सिर धुनोगे
मेरी कहानी पर
मेरी कथा शेष है
पहाड़ के उस पार जाने की।

यक्ष प्रश्न

कौन हैं वे
कौन हैं
कि उनके पैरो के निशान
बन जाएँ निशान
मेरे पजो के।

कौन हैं वे उनके
शब्द
नगे धडगे
नोचते
बार बार
अपनी विपन्नता।

कौन हैं वे जो इतने
निकट कि अपने झडे का बाँस
पकडा देते हैं मुझे
मेरे हाथ।
कौन हैं वे
कौन हैं आखिर
यकायक
कितना खतरनाक है सहना
भविष्य के नगे जगलो मे
बास उगाना
कौन हैं वे
जो भेदते रहते हैं मुझे बार–बार।

कहाँ गए

कहाँ गए वे कदम
वे कदम मारकटैम करते हुए
वे रूप
वह शाम
कहाँ है वह
एक लम्बे हिंसक युद्ध के बाद
वह विजय दर्प ।

कहाँ गए
वे कुत्ते
जिनकी पूँछ हर लाले पर हिलती थी
कहाँ गए
वे कुत्ते ।

कहाँ गए
वे साप
वे साप दाढ़ीदार
जिनकी पगड़ी मे छुपे रहा करते थे
दिन और रात के हिसाब

कहाँ गये
वे साप ।
कहाँ गई
वह आहट
कहाँ बन्द हो गई वह जुबान
वह हलचल
जो एक काले पहाड़ की तरह
भिड़ जाती थी दुश्मन के भूचाल से सीधी

कहाँ गये वे
लाल सुर्ख उत्तेजित शिखर
जिनकी लपट से बुझता था विष
कख की फुन्सिया करकने लगती थी तब ।

नहीं, नहीं

नहीं, नहीं, यह भी नहीं
कि सेकने की प्रक्रिया आग पर,
और काल विपर्यय के लिये
इतिहास ।
नहीं, नही जाँच जरूरी है ।
पहचान तभी बनेगी
अनिर्णीत दबावो की और
समर्पित जमीन के कालचित्र की ।

नही नहीं, प्यास बुझी नहीं
वही गर्मी
वही कडकडाते जाडे
मिटे नहीं
वह
कैंचुली छोडती देह– वह
दूरिया कम नहीं हुई
की अनन्त गतियो का भार अभी
टूटा नही ।

नहीं, नही वे घने साये जो निकट के थे
जिन्होने रचे थे ताने बाने आत्मीयता के
वे भी नहीं

वे ऊँचाइयो वाले पहाड़
वे दूरीरहित रास्ते
वे भी नहीं
वे घुसे हुए लोग अब   वे भी नही
वे लजीले- वे हठीले, वे मानपुरुष
वे भी नहीं।
नहीं, नहीं, वे पगडडियाँ नही
ज्वालामयी
ऊर्जस्वी
वे कथाएं नहीं-
दीप धूप और जले लोबान सजे वे आसन नही
वे ऊँची आशाएं- हर्ष और उत्कर्ष नही।

नहीं, नहीं,
हो सकता है अर्थ भिन्न हो- बदलाव भी—भिन्न
जैसे माचिस पर तीली को रगड़ना
इस क्षणिक रगड से छोटा सा प्रकाश
कि आग जले
अपनी व्यजना के लिये
नसो मे स्पदन हो
रचना परिवर्तन के लिये
नही, नही, यह भी नही
नीतिशास्त्र
सौन्दर्यशास्त्र
कब तक चलेगी आखिर हाथ की सफाई।

नहीं, नही,- तो उठ। उठ।।
आँखे धो
कविता की धार पैनी कर
कविता के बिना जीवन नहीं
सितारे जगह नहीं बदलते
और निर्देशित विद्रोही मजदूर मोर्चे
प्रतीक्षित है तेरे लिए।

खिडकी के बाहर

बाहर—
कितनी है जडता और
आक्रोश
फर्क कुछ नहीं पडता
तमतमाते
चेहरे यदि
बदल ले आकृतियाँ
क्या होता है
जब ι गकिम भय हुआ होता है।

बाहर
यद्यपि खुला आगन है
हरियाली है
खुशिया हैं
क्या होता है
जब गलित अग पाकर
पुरुषत्व उफनता है।

बाहर—
पूरा पता है
इस भयावह शताब्दी मे
मिलेगी यन्त्रणा असीम
लेकिन
गिरेगी नहीं ये तनी हुई
मुट्ठियाँ
आँखे भी जली हुई
भयानक
नियामक हूँ
चीरने
अँधकार
असत् ।

बाहर
ताजपोशी है
वाणी को छीनने के लिये
तलवारे हैं
तराशने
बाहे
लेकिन आग भी है
बचोगे कहाँ
यह अभिभूत शव
चढ़ेगे
तुम्हारे कँधे
पूछेगे
कथा की समाप्ति पर
अगली कथा के निष्कर्ष ।

बाहर—
आदमी है
खून है
कहते हैं
डाकू हैं
झंडे हैं
टोपियां हैं
भारी भरकम बूट हैं
बाहर
खुला हुआ आकाश है

बाहर—
अफसर है
मूँछें हैं
रंगी हुई आँखें हैं
अफसर आँखें तरेरता है
खड़े होकर
मातहत भयभीत।

बाहर—
हवा बदल गई है
जुबान ने भी बदली है
त्यौरियां
फिर भी
झुंड के झुंड भाग रहे हैं
भयभीत
भय तो बिजूके का भी होता है।

बाहर—
वे हाथ हैं
उनमे सनदे हैं
भविष्य की
उनमे हृदय हैं
वे उछलकर हँसते हैं
हवा बदली है
उसने नया परिधान बदला है
कोई तूफ़ान गुजर गया है बाहर
हवा कुछ स्वस्थ है।

बाहर—
बोझिल साँसे हैं
हाफती प्रलयातुर
समय की मुट्ठियो मे बद
तमाम क्षेत्र भयभीत।

बाहर—
पानी
वेगवान्
पानी ही पानी
चारो ओर
कागज़ की किश्तियो से
घिरा हुआ
पानी
अथाह
हवा बन्द
वाग्देवी
उदास

बाहर—
चीर कर रख दिया
और हवा भी
बाँट दी गई थी
दोनो तरफ
बाँहे
हिलने लगी थी
जुबान पर जुल्म
बादलो की गडगडाहट नाहक
मस्तिष्क
उगलता था
जहर और आग
पर चुप्पी सब तरफ
घुप्प अँधेरा
और कोई नही बोलता
द्रौपदी खडी थी
निरवस्त्र।

क्षण कुछ क्षण

जलमग्न
हो गई पृथ्वी
पुन गध से
भर गया
आकाश
पल्लवो ने
रितु को
लखा
बहवार।

वो

सहस्र
जलवारि चहुँ ओर
कहता वृक्ष
वन से, दहता
पलाश।
लता से
अधकार।
जल से
प्रकप।
आकाश मे
होती जो
अनुगूँज
मेरे प्राण से।

पैर आदत मे होते

पैर आदत मे होते
तो चलते
पहुँचते
तुम तक
पैर यात्रा मे हुए
तो पहुँचे दूसरो तक
पैर मजिल पर होते हैं
तुम तक आते-आते।

पैर आदत मे होते
तो चलते
निरन्तर
पैर यात्रा मे हुए
जब भी
तो पहुँचे
दूसरो तक
और मजिल पर पहुँचकर
बन न पाये मजिल के
अपने।

ओ रे कन्नू ! ओ रे मीता !

कन्नू ! क्यो हर बार
बार बार
मेरे सामने होकर
भींच लेते हो
अपनी मुट्ठी
क्या तुम वृक्षो के समूह मे
खड़े होकर
लहलहा नहीं सकते ?
अपने हाथ उठा कर
मोड नहीं सकते यह नदी ?

मीता !
आओ
बैठो मेरे साथ
देखो वह कन्नू
नदी की लहर पर
खड़ा है
तुम्हे बुलाता है
तुम्हारी कमीज के कालर पर
जमी कालिमा
अब धुल चुकी है
तुम्हारे बदन पर जमे
कीचड़ को भी
यह पानी ले उड़ा है
अब तुम हाथ हिलाकर
अभिवादन कर सकते हो !

लौटे है वे –(1)

लौटे हैं वे
अभी अभी
आग सा
भभूका सा उड गया
समूचा शहर
ये शहर
कहा खो गया है यह शहर

न वे हल हैं
न ये तराजू हैं
जिन पर तौल कर
उन्हे परख सके
उनके ईमान
उनके बेईमान और बेरहम
दिल टटोल सके
वे तो थे तब
वे तो हैं अभी भी
और वे लौट आये हैं सकुशल ।

लौटी है वे -(2)

लौटी हैं
वे अभी अभी
ललनाए
दोपहरिया सी
क्यारिया पानी से भरी हैं
पौधो मे फूल फूले हैं
इस भूमि की तासीर ही
ऐसी है कि
पौधे पत्थर को तोड कर
आगे बढ़ जाते है
रात-बिरात नही देखते ।

लौटी हैं
वे
बालाए
बिजली सी चमकती-दमकती
वे लौटी हैं
खेत की अगली मेड ने
उन्हे सलामी दी है
वे
लौटी हैं अभी-अभी सकुशल ।

वे हाथ भी खूब है।

एक

वे भी खूब हैं
खूब हैं
वे हाथ बनाते हैं
उनके कारखाना है
उनके सैकड़ो मजूर हैं
सबके सब हाथ बनाने मे लगे हैं
सबके हाथो मे
बने हाथो की लगाम है
वे हाथ भी खूब हैं
हन्टर से चलते हैं
फिर भी तेज बनते हैं।

उत्सुकतावश एक दिन
कारखाने को देखा
कारखाने मे काम जारी था
हाथो पर हाथ बन रहे थे
चारो ओर हाथो का मेला था
दीवारो पर चिपके थे हाथ
वृक्षो की फुनगी पर बैठे थे हाथ
आकाश मे पैबन्द लगा रहे हाथ

जमीन पिचकी खडी थी
मैं देखता रहा
देखता रहा
मुह मे लगाम दबाये हिनहिना रहे थे हाथ
यकायक कारखाना
खाने लगा खाना
हैरत थी कि हर थाली मे
कोई न कोई हाथ था
वे पके हुए हाथ
स्वादिष्ट थे
कारखाना प्रसन्न था।

दो

दोनो हाथ
लम्बे नहीं
दोनो हाथ
शातिर हैं
दोनो हाथ
एक दूसरे के चेले
दोनो हाथ
कभी बाप
कभी मा
मा के पास
एक हाथ काफी होता है
बाप के पास
दोनो हाथ एक से
बडा अन्तर है
मा और बाप के बीच
दोनो हाथो के बीच।

तीन
वे हाथ भी खूब हैं
वे हाथ हैं
सिर्फ हथेली ही नही
उनके हाथो मे बन्दूक है
उनके हाथो मे शतरज की टेढ़ी चाल है
उनके हाथो मे कठपुतलियो की डोरी है
उन हाथो मे बेबस मजबूरी है
वे हाथ भी खूब हैं।

आओ मेरे हाथ ले लो
मैं हाथ देना चाहता हू
उनका मुह मत ताको
हम हाथ हो
मैं चाहता हू
मैं चाहता हू हमारे हाथो के साथ
और भी हाथ बने
हाथ बने और हजारो हाथो को सजाए
करोड़ो हाथो को बढ़ाए
उनमे प्रकाश उपजे और
अंधेरा छटे
आओ, मेरे हाथ ले लो।

मंत्र

निष्कलंक
अक्षर
समर्पित
सम्पूर्ण
सुलगते ज्वालामुखी पर
हे अग्नि
ऊर्जस्वी हो
हे ज्वालशीर्ष
उठो
उठो
और ऊँचे और ऊँचे
मैं
प्रतीक्षा मे
स्थिर
तब तक।

धूप चढ़ आई है

मीलो के पत्थर फोड़
ूप चढ़ आई है
कच्ची मुँडेरो पर
दूर–दूर
े की

ब चीर
उतर चली मैंडो पर
दूर–दूर धूप चढ़ आई है।

चिलम फूक बादलो के झुड–झुड
धूपछाही बाहो पर
पैर पीट
छप्पर के छेदो मे
दूर–दूर धूप चढ़ आई है।

दगरो के मैंचो पर
रोता तब कालक्रम
'आल्हा' की टेक पर
दूर–दूर धूप चढ़ आई है।

जुड़ता है जीवन यहा
किरण पत्रिकाओ मे
इस गाव की मुड़ेरो पर
अब धूप चढ़ आई है।

मरते हुए लोगो का क्या

मरते हुए लोगो का क्या
वे मरते है
उन्हे मरना है
रोज रोज
गाड़ी
मोटर
या सडक को
कोसने से
दुर्घटना की भाषा का अर्थ
बदलेगा नहीं
न ही
दान या चन्दो की रकम से
वे मुर्दे
जी उठेगे।
बाढ़
भूख या
अकाल या
निर्दोष प्रकृति के बेटो का उत्पाद
किसी के कोसने से रुकेगा तो नही
किसी के भला बुरा कह देने से
सिर्फ भाषा ही तो बनती है,
रचना तो नहीं–
रचना का मार्ग तो
इन्ही मे खोकर कहीं जाता है।

सुनते है

सुनते हैं
कोई पाप होता है
इस ससाती प्रासाद का ध्वस करने हेतु
कोई पाप होता है

और सुनते हैं
गलत मापदड प्रकट करने के लिए
कोई भाषा होती है
भूमि का पक्षयुक्त अनुग्रह उत्पन्न करने के लिए
कोई जुबान होती है

और सुनते हैं
अँधेरे कोनो मे कोई आँख होती है
भूमि को ऊँची नीची देख
उसे समान बनाने के लिए
कोई हाथ होते हैं

सुनते है
खामोश आवाजो मे भी गर्जन होती है
भरे मेघो की भिडन्त जैसा जोश होता है
समूची धरती को कमान की तरह खींचने वाला
तूफान होता है

सुनते हैं
कुछ होता जरूर है
शायद कुछ होते रहने के लिए ही कुछ होता रहता है।

अस्तित्व

मुझमे
कमी है
सिर्फ इतनी
कि
मैं
समूचे रूप मे
एक सजीव आदमी की तरह
जीवित नहीं रह पाता
जीता रहता हूं
एक विचार के लिए
और विचार की तरह
विचार
जैसे एक लम्बा 'डैश'
धरती जैसा अन्तहीन
और उस वक्त
मैं
अपनी खुदी को खत्म करने को
तुल जाता हूँ
एक विचार की तरह
और धारा
बहती रहती है
अस्तित्व बनता रहता है
एक नई सरचना के लिए।

और फिर जेठ बीता

और फिर जेठ बीता
बादल घिरे
कौंधने लगी
बिजली
जमीन पर
उगने लगी
वनस्पति
घूरे पर
कुकुरमुत्ता
नदिया उफनने लगी
झीलो मे
तैरते
शापित यक्ष
रचना से।

पर मेधावी एक बूद
सोचती उदास
अपना
अस्तित्व
इस महान रचना के बीच।

मेरी ज़मीन पर क्षण भर

[भरतपुर]

केवलादेव घने की सीधी सड़क ने
कितनी बार
इस जयपुर शहर को स्पर्श कर
मुझे आहत किया है
कितनी बार
और कितनी बार वही सुजानगंगा बाट जोहती रही है
कितनी बार
कितनी बार जवाहर बुर्ज ने मुझे टोका है
जहाँ से खड़े होकर मैंने इस शहर को देखा है
कितनी बार
वे कदीले
वे खड़ियार की नीचे तक झुकी हुई उनकी टेढ़ी-मेढ़ी शाखें
जिन्हें कभी घोड़ा बना कर 'टिलो' खेली थी
कितनी बार
ये सब
वे सब
अब जहाँ के तहाँ है
उधर विजेन्द्र
और प्रहलाद सिंह
और और और कालभैरव
मुझे उठाकर धड़ाम से पटक देते हैं मेरी जमीन पर
और सहसा नींद टूट जाती है
कितनी बार

सच यह जमीन
अब इतनी याद आती है इतनी कि
जितने मेरी उम्र के घटते हुए दिन।

जयपुर शहर मे क्षण भर

मेरी भूमि
कितनी बार तुम मेरी नब्ज मे धडक कर
मुझ मे रिस-रिस कर याद आई हो
कितनी बार इन चट्टानो पर बैठे-बैठे मेरे रोगटे
मुझमे छेद करके खून निकाल लेते हैं
मैं अपनी कतरने बटोर कर
अपना फटा चेहरा सीं नहीं पाता
कितना खतरनाक है इस तरह चलना
ये तेवर
रक्तवर्णी प्यास मे जलने लगे हैं ये माथे की लकीरें
नये पौधो मे ऊर्ध्वमुखी
मेरी भूमि
मुझे उगल कर कहा पटक गई हो
अब न कोई सवाद है
हथेलियो पर अब सिर्फ धूल जमी है ।

इस उजाले पर

इस उजाले पर काला रोगन लेप देने के बाद भी
प्रकाश तो रहेगा ही। रहेगा। तुम भी आँखें बदलोगे
मुझे भरोसा है। लेकिन
चारो तरफ हल्ला बोल दिया गया है। हालाकि–
मोर्चाबन्दी के कई कोणो के पुल उडा दिये गए हैं।
उड़ा दिये जाते रहेगे। लेकिन
मैं लडाई मे शरीक हो चुका हू। मेरा युद्ध अब शुरू हुआ है।
मेरी डायरी मे मित्र अब नहीं उगते। मेरे पास गधाते फूलो की
नींद नहीं है। एक दिग्भ्रष्ट नाविक सा निर्वासित समय
मेरी उगलियो की जकड मे है। लेकिन
कितना अजब है यह सजोग। कि इस उजाले पर काला रोगन
लेप देने के बाद भी
तुम्हारा लिबास अब पूज्य रग मे दिखाई देने लगा है।
और भीतर का ज़िरहबख्तर ? उसकी नही कहते ? इसलिए कि
शरीर का घाव सुनाई तो दे पर महसूस न हो। लेकिन
मेरे पास अब बारूद भी नही है। डाइनेमाइट थोडा कुछ
बचा है। जेबे भारी हैं। आस्तीन ऊँची चढ़ने लगी है।
ललाट पर रक्तचिन्ह का तिलक उलीचता है
आग आग–
भयानक जगली आग। लेकिन
यह कहानी खत्म नहीं होगी। निरन्तर और निरन्तर
बढ़ती रहेगी।

हर सुबह चाय के साथ

अपने बेलगाम कृत्यो पर
हम घटो हसते रहते हैं
घटो हसते रहते हैं
हर सुबह
चाय के साथ

बेहया शर्म
सी कर
घुस जाती है
किसी गीले पेटीकोट मे
तब तक

तब तक
हमारी दाहिने हाथ की
अनामिका
होठो के बीचोबीच
उगली रख देती है। सायास।

पसीने मे तरबतर
मैला कुचैला कालोच लगा कुरता
मुझसे रगड़ मारता है
तब तक
चौपड़ पर लाठिया चल जाती हैं
पान चबाता जबड़ा
बाहर निकल आता है

तब तक हमें नहीं ध्यान रहता
पुलिस के आदमी का
या पुलिस वाले का
और कहीं कोई
हमारी नाक का बाल उखाड़
भाग जाता है
हर सुबह
चाय के साथ

हर सुबह
और चाय का साथ ?
मीठा होता है
गोश्त के गुलगुलों की तरह
तब तक

तब तक
हकदार हांकता रहता है
कमजोर कंधों का बैल
कोयले के गोदामों में और
तक तक
जोर की मार से
छोटू मर जाता है
थाने मे
हमें ध्यान तक नहीं रहता
और कहीं कोई
धारा चवालीस तोड़कर
चढ़ जाता है
पुलिस के ट्रकों मे
हर सुबह
चाय के साथ।

[कर्मचारी राज्यव्यापी आंदोलन 1973 के क्रम में सत्ता की गुलमजोर कार्यवाही की बीच गुजर कर]

टूटने दो अभी और

टूटने दो अभी और
अभी और टूटने दो
जडे तो गहरी हैं
गहरी
और गहरी
अभी और टूटने दो
टूटने से ही बँधेगा पानी
पानी
वे पातालफोड कुए
जडे पी सकती हैं पानी
अभी टूटने दो अभी
किनारे कटे तो कटे
बँधेज के धाकर–
सूरज रुकता है अंबर मे ।

कटें
वे कटें
कटते रहे निरन्तर
किसी ने उन्हें रोका नहीं
कोई उनसे चिपका नहीं
वे टूटने की क्रिया को
गले लगाते रहे
पातीराम की आँखे भरने लगीं
जो घट रहा है
वह रुकता क्यो नहीं
कौन रोकेगा उसे ?
उँगली उठ कर भी गिर सकती है ।

धुआ उठने लगा
कडो की आग नरम होती है।

कडे सुलगे
नरम हीया गरमी पीने लगा–
कहो पातीराम
कहो 'कन्डैल'
छेडो कोई बात कि रात कटे–
कैसी थी वह जग
जहा जूझे थे वे महान योद्धा
हमारे कक्का, हमारे मामा, हमारे बेटे
प्रतीक्षित हैं वे सभी
वृक्षो के वश
असख्य
जिनकी हरी–हरी परतो पर धारदार हथियारो के
घाव
उनकी आँखे–
उनके कान अब
तुम्हारे और लगे हैं।

आखिर कब तक

यह तमाम सिलसिला मुझे उद्वेलित नहीं करता ।
मैं इन्तजार भी नहीं करूंगा । आखिर कब तक
यह खून–खराबा
वह बाढ़ मे बहता हुआ छप्पर
अकाल मे जलता रेगिस्तान ।

आखिर कब तक
आखिर कब तक ये औरत मूल्य–सूची सी लटकी रहेगी
सरे आम
सरे बाजार ।
मेरी नींद कोई उड़ा कर ले गया है । लोग बातो मे
मशगूल हैं उधर कुत्ते भूक रहे हैं ।
आखिर कब तक ये धोबीपछाड
गोली डडे ।

आखिर कब तक उडते रहेगे । ऊँचे आकाश
आपका सोचना शायद वैज्ञानिक है । उठान की
हर फिजा कद्दावर होती है । होती है । नींद हराम कर देती है ।
मेरे खून मे
तेज दमदार हवा का वेग सचालित है ।
इतजार करना
मैं पहुचूगा । हर कटे धड़ पर फिर से चेहरा उगा कर
लौटूगा । यह तमाम सिलसिला मुझे उद्वेलित नहीं करता ।

वर्षों बाद

वर्षों बाद
कल किसी ने कुछ कहा था
वर्षों बाद
कोयल घर लौटी थी
वर्षों बाद
उन्मादी हवाओं ने
झकझोरा था
मेरे आगन की यकायक खामोशी टूटी थी
वर्षों बाद
और छोटा सा बच्चा
एक छोटी सी तितली को लपकने
दौड़ा था
वर्षों बाद।

वर्षों बाद जब कुछ ऐसा होता है
खुशी तो होती ही है
भूकंदृश्यो मे परिवर्तन की फिजा उभरती है
कोई नया भूखंड
पृथ्वी को तोड कर ऊपर आता है।
हमारे सकल्पो की आँख
यकायक अकुरित होते बीज पर टिक जाती है।

पर आज वर्षों बाद कुछ और ही दिखाई देता है
कि पृथ्वी की फटी हुई जेबो मे
सिर्फ राम का नाम है
और नाम के चारो ओर
विध्वस और विस्फोट के सघन बादल हैं
अकुरित होते हुए बीज की शक्ल
पृथ्वी के पुरखो से नही मिल पा रही है

वर्षों बाद
वह सब देखा कहा--कहा वे सघन छायाए
सिमटेगी
वर्षों पहले जो सुना था
वह काटेदार निर्गन्ध झाडियो मे
उलझ कर फसा है।
उन्हे कोई नही सुनता।

व्यक्ति अब सिर्फ अक बन कर रह गया है
आदमी सिर्फ पुतला सा है
अकूत आकडो के जाल का।

जयप्रकाश की याद मे–

प्रणाम तुझे
तू अब नही
अब नही
और चमकदार शीशे के सामने
निर्विकार स्वाभिमानी
तेरी हँसी तनिक पाने को
आकाश का विस्तार
चिनचिनाता घुटना
माथे से बहता खून
चौराहे पर चिराग की अर्थी
दिशा इतनी, अरे इतनी
तू अब नही
किसे दिखाऊ
जी मैं उफनता हुआ कटीला आकाश
मिट्टी की जवान पगडडिया पुरुष
पर तू नहीं
तेरे बिना कुछ भी नही।
तू था तो दहलीज पर रोशनी थी
तू था तो पवारो के हिए हुलकते थे
तू था तो लक्ष–लक्ष सूरज के रज के
कण–कण चिरज्योतिमान् थे।

प्रणाम्।
केवल इतनी सी याद
एक व्यक्ति और अनेक राहे विशाल–
दिशा इतनी
प्रणाम।
पुन सकल्पित प्रणाम्।

क्षण भर हवा के साथ

मैंने खोल दी
खिड़किया
दरवाजे रोशनदान
हवा आयेगी
हवा आयेगी
किताबो के पन्ने
खुलने लगेगे
दिन महीने और वर्ष पर वर्ष
दीवार पर टँगे हुए कलेन्डर
और तारीखे इतिहास की पीठ पर
चिपकी होगी
हवा मे घुली होगी
थोड़ी सी नींद
थोडी सी खुशबू
थोडा सा स्पर्श
हवा मुझे चैतन्य कर
बिठा देगी थोडी देर
मेरे चेहरे को धो डालेगी
क्षण भर और
थोडी सी हरी हवा मेरे आगन के
वृक्ष को लपेट लेगी अपने साथ
क्योकि यह हवा जानती है
पहचानती है
पर घरो मे कैद
लोग नही जानते
और हवा हवा होती रहती है।

शाम के साये मे क्षण भर

दूर दूर तक
अब कुछ दिखाई नही देता
यह निगाहे अब सिर्फ
प्यास की गहरी खाई के सिवा
कुछ नही देखती
और प्यास बढ़ती जाती है निरन्तर।

प्यास जीने की साजिश है कोई
हवा वही, वही तारो का साफ–साफ जाल मेरे ऊपर
और चाँदनी लिखी है आकाश के सीने पर
नीचे नगर पड़ा है बेखबर
जल रहे हैं लट्टू बिजली के
आवाजे मन्द, गन्ध धुए की
सध्या पसरने लगी है और कही
गया स्नेह भी साथ–साथ उसके।

जितना हम आकाश मे उठे
उतना पाया
लुटाया हर बार
जब जब जिज्ञासा के तार बजे।

पातीराम और सडक

अपने-अपने घर से निकलो
आओ आओ
साथ हमारे
चले वेग से
चले नदी के साथ
सडक पर देखे साथ तुम्हारा

सड़क खडी है स्थिर
अपने पदचापो का सगीत सजोए

यही खडा है
मित्र हमारा
रिक्शे वाला
चक्र की तरह घूम-घूम कर
सडक नापने वाला पातीराम

हवा खडी है
सूखे पत्ते बोले चल-चल

चल-चल शब्द
सुजान यहाँ है
पातीराम खडा सड़क पर
चक्र चलाता
स्वय सडक बन

पातीराम नाम बना है
किसी किताब का
पातीराम ध्यान बना है
किसी माल का

पातीराम अजब बला है
कहता, हाथो के दिन आएँगे
कब आएँगे, नही बताता
नहीं बताता
पातीराम है आग भभूका।

हुमक हुमक कर
जलता रहता
जल भुन कर भी नहीं सोचता
जल का मिट्टी हो जाने की आत्मव्यथा।

सड़क सुलगने लगी अचानक
कोलतार भी चमका
अपना सोचा
सूनी सड़क कहीं नहीं देखी।

पातीराम और सड़क मे
सामञ्जस्य है कितना प्यारा
एक खड़ा है
एक बढ़ा है
गति एक सी
उनकी अपनी।

कामना

पीले पीले पत्तो के ओज मे
डूबा हुआ सन्नाटा
दूब के टखनो पर गिरती
बासी धूप
और दरख्तो के नीचे से
टहलता हुआ एकान्त
इसे भर लो
वक्त के किसी विस्तार तक
वे छूटे हैं
छूट गये हैं वे सारे सीमान्त
पवित्र या अपवित्र गध
फैली है चारो तरफ
कामना का प्रचण्ड सूर्य
पसरा पडा है चारो तरफ
इसे छू लो
चाह भर लो
आजादी के किसी भी अनछुए आसमान तक
पाप तो निसगता है
पर जुडना आकर्षण है
सारी तृप्तियो की आड मे
इसे छोड दो
किसी भी जल की ठडी स्पर्शहीनता तक
इन सब को
भर दो
अपने होने के अहसास तक
और फिर
धूल उडाते फिरो
कहीं भी
किसी भी
सवेदना के विस्तार तक।

यह साल
1992।

*जाड़ा
जैसे
हर साल
गर्मी और
वर्षा भी
वैसे ही–और
वैसे ही
हवाएँ
झूमती
मचलती
गले मिलती
हर साल
ऋतु मे
बदलाव
क्षणिक सा
पर यह साल
पिछले सालो जैसा
दिखता नही
इस साल के
हाथो मे थमा है
चाकू
धारदार
बन्दूको की गोलियाँ
भी
खूबमखब
इन्सान
पत्थर के बुत जैसा
अकेला खडा है मौन
इस साल
शतरंज के गोटे से
पिटता रहा है
यह साल
राम के नाम पर
वोटो की बढ़त पर
बढ़ता रहा है
यह साल।*

कल की बात

कल कवि
सस्कार
दुहरा रहे थे
दुहरा–दुहरा कर
आड़े तिरछे
हो रहे थे
उनके हाथो की हथेलियो
की थाप भी बुलन्द थी
आँखो मे चमक
और चेहरा खुशी से
लाल था
कल की ही
बात यह भी है कि
कल सहसा
एक बच्चे ने
उन्हें पकड़ लिया
पूछा–
कि तुम कैसे कवि हो
जो इतना भी
नहीं जानते
कि फसल कट जाने के बाद
खेत मे कुछ नही बचता।

शायद कोई आने वाला है

अब तो अबाबीले भी
ऊँची उडान पर हैं
कौए काँव-काँव करते
मुडेरो पर।

पगडंडियो पर
धूप की कतरने
सरक कर
वृक्षो की फुनगियो पर
जा अटकी हैं।

लगता है कोई आने को है।

बादल ने
धीरे से
नीचे उतर कर
थपथपाया है
हवाओ को
हवा शीतलता लिए
जा उडी हैं
उन्ही रास्तो पर।

शायद कोई आने वाला है।
वर्षो बाद
बहुत से शगुन
एक साथ इकट्ठे हुए हैं
प्रतीक्षा को
राहत मिली है
थोडी सी।

वर्षों बाद
ऋतु बदली है
धरती ने नये-नये कपडे
बदले हैं।

शायद कोई आने वाला है।

सुनो, सुनो !

आओ
सब मिलकर
बैठ कर
विचार करें
उस पौधे पर
जो विषैले कीड़ो द्वारा
चाटा जाकर भी
भूमि पर
खड़ा है
अकेला
सिर पर लबादा ओढ़े
सम्पूर्ण हरियाली का।

सुनो, सुनो
तभी एक आदमी
विषभुजा सा
चीखने लगा था
हमारी भी सुनो
हमने वह सब देखा है
हमारी ही भुजाएँ
कटी थीं तब
अब तो यह जिन्दगी
बिखेरने चला आया हूँ
ठीक उसी तरह
जैसे
अपने ही
वर्षों बाद पैदा हुए
नवजात बच्चे
के जन्म पर
पैदा हो जाती है स्वत ही
एक नई जिन्दगी।

शाम

उतर रही खेतो के आर-पार
शाम
रेशम सी
दूर से
ढकी हुई छाती को
उतर रही हरी-हरी
खेतो के आर-पार
शाम

वह वृक्ष खो गया कहाँ जो
जोड रहा था धरती को
आकाश से

काली मटमैली साड़ी की
आभा मे
टूटी सी लुढ़की सी,
सिकुडी सी
खेतो के पार-द्वार
उतर रही
जीवन सी
शाम ।

वृक्ष की फुनगी पर

ऊँचाइयाँ
कहने के लिये
नहीं होतीं
रहने के लिये
उनमे
बनानी होती है
जगह
और घाटियाँ
सिर्फ
बजने के लिए होती हैं

जो
गुँजाती रहती हैं
कुछ क्षण

फिर घाटी तो घाटी है
भीतर एक घाटी
बाहर एक घाटी
कभी ठहराती
कभी दौड़ाती
तो कभी बैठा देती
वृक्ष की
फुनगी पर

ऊँचाइयाँ
कहने के लिए नही होती
सहने के लिए होती हैं
उन्हे भी एक दिन
नीचे उतरना
होता है।
मानुषी ज़मीन पर।

'आखिर कब तक पुकारुँ'

[स्वर्गीय डा रांगेय राघव की स्मृति में]

आखिर कब तक पुकारू ?
मेरी आवाज अब चुक गई है मित्र ।
सच । चुक गई है–
तमाम नीद बिगड चुकी है
सारा आकाश
कुछ हवाओ के साथ उड चुका है
फिर भी
मेरे बिस्तर के पीछे
खड़ा है
गुमसुम
अधूरा   किला ।
पीछे   फुलवाडी महकती   मचलते
दौला बाग
रैस्ट हाउस
नौ लक्खा बाग
बारादरी की सामन्ती मेज
देवी की मढ़ैया
जलते चिराग
और ठहरा हुआ मौन–
कब तक ?

आखिर कब तक पुकारूं ?
समयहीन पुकार
जब अर्थहीन चीख मे करवटे लेती है
घड़ियो का घूँघट
शायद हट जाता है
घूपतचे चेहरे
चमक पड़ते है अपने आप
सीधे, सच्चे और असली
जाग पड़ते है जीवन्त–
बतरस मे पाप के भागीदार
चम्पो
रामकरन
बनैसिह
कर्तव्य के लिये जूझते हुए
किशनलाल मास्टर
निहाल कौर
आखिरी आवाज ।

आखिर कब तक पुकारूँ ?
यह धुँधली काली तांबिया शाम
अब चढ़ने लगी है
किनारे और किनारे–दर किनारे
सच ।
नही झूठा सच
कि वह मर गया
समय के गुजरते रहने
की आहट
वह नही सुन सका
और चमकते चेहरो
का सूर्यास्त उसकी प्रतीक्षा करता रहा
अनवरत्
कि वह नही रहा
जाने कहाँ खो गया वह ।

प्रतीक्षा ।
इस चौड़े आकाश की प्रतीक्षा
इन गहराती रातो की प्रतीक्षा
उफ ! सुखराम खड़ा है,
'लो नरेश, सुखराम आ गया'–
और नरेश आलू पोंछकर पूछता है–
चन्दा कहा है दादा ।
कहा छोड आये हो चन्दा को ?

गूज ।
कुए की सी गूज
सुखराम
कजरी
प्यारी
रुस्तम खा
होऽऽ होऽऽ छिप छिप छिप
इस किले की चमगादडे फड़फड़ा उठी हैं,
आग अब छप्पर पर सुलग रही है ।

त्रस्त सन्नाटा
हताहत बैचेन हाहाकार ध्वनित
हारी हुई हाके
माझियो की
डूब जाती हैं दूर दूर
अथाह की गहराइयो मे

उफनती हैं तब
किसी उजड़े नगर की
सिर पीटती परछाइया आगरा से बैर तक

रगीली फरफराती आवाज
घरौंदे से लेकर आखिरी आवाज तक
आखिरी आवाज ।

महाविजय
महायात्रा आखरी आवाज़ ।
राघव रघुपति तिरुपति रागेय
एक मकड़ी का सा जाला
तना हुआ तार तार
चक्राकार
ओढ़े हुए
घनघोर कुहरे का रुएदार कम्बल ।

आखिर मैं कब तक पुकारू ?
मैं ठाकुर जो हूँ
अधूरे किले का मालिक
आकाश अब जल उठा है अचानक
और बिखर गया है
एक सुनहरा छलावा
'वह कहा है ?
कौन ?'
जो मुर्दों के टीले पर बैठकर
नौ लक्खा से घूरता था 'सुखराम'
और 'सुखराम' से 'धरती मेरा घर'
धरती के घर से लालटेन
लालटेन से
निहालकौर दम्मो विद्या और

शायद वह कहीं चला गया है
शायद मंजिले ढूंढने जन्म जन्मातर की
जन्म से पहले की उम्मीदे
और मरण के बाद की उपलब्धियाँ ढूँढने
मंजिल दर मंजिल
वह कहीं चला गया है
शायद दिन के समन्दर की
गहराई नापने ।

आखिर कब तक पुकारू ?
यह अधूरा किला
समय के अवगुंठन को चीरकर
फुलवाड़ी की महक को
नोच-नोच पागल है
चीख-चीख कहता है
ठहरो ।
अभी अभी
अजगर फिर खींचेगा साँस
इस फुलवारी का आगन
फिर महक जायेगा
और तेरी पुकार पूरी होगी
वह आयेगा यहा, ठीक वैसा कि वैसा
जैसा जो तब था
और कहेगा
फिर चलूँगा तेरे साथ
साथ दूँगा
जीकर मरूगा
मर कर उठूगा
पर शर्त है कि आख लाओ वही
ऊपर की नहीं-भीतर की ।

आखिर कब तक पुकारू ?
अब तो इस अधूरे किले के कपाट भी बन्द है
खैर, प्रतीक्षा करूगा
जन्म जन्मातर तक
तभी विस्तृत होगी और विस्तार लेगी
एक कवि की महायात्रा ।
चटकेगा रग तभी
खुलेगी खिडकिया
झुकेगी गुम्बजे
समय रुकेगा और
देगा सलामी-
कि कोई था
वैसा कि वैसा महान् ।
अपनी कृतियों सा ।

अभी तक है अभी

धुप
गहरी धुप
चारो तरफ जडो की दाढ़ियाँ
पौधो से बँधी हुई बूढ़ी दाढ़ियाँ

और प्यास है
जीवन
पतिया यादे हैं
किलकारिया है पत्ते पत्ते

मौसम
थपथपाने के लिये
बैठा है
मेरे सिरहाने

हवा है
कुछ–कुछ सर्द सी
कुछ–कुछ गर्म भी
कुछ–कुछ भडकीली

निगाहे हैं
दूर दूर तक
सरसो की पीली चूँदरी
पहने खडी है मेरी माँ।

वक्त अपनी साँस रोके
बैठा है मुझ पर
पाँव धरे गाफिल है
सारी दुनिया बस

पाँव तो वे हैं जो चले हैं अनवरत्
हाथो मे उठाकर ले चलने की ज्योति
शेष है वे ही अभी तक
अभी तक वृक्ष हैं ऊँचे और ऊँचे।

वे हैं अभी भी

खामोश खडी हैं वे
उनके पैरो मे बँधे है
समय के नूपुर
वे हैं
धरती की खार
उन्हे नफ़रत नहीं है
मनुष्य की गन्दगी से
वे खडी हैं चुपचाप

वे देखती हैं समय का चक्र
जो उल्टा घूमता है उनकी तरफ़
पर वे कुछ नहीं कहती
देखती रहती है अनवरत्
सिक्के का
प्यार का
आस्था का
दूसरा पहलू

वे जानती है उन नक़ाबो को
उन्होने उतार कर पहनाया है अनेक बार
उनके आते–जाते और
उन्हे पहचान कर भी
खड़ी रहती हैं वे आँखे मूँदे
हाथ बांधे
खामोश खड़ी रहती हैं वे

वे अमर हैं   उन्हे मैं रोज देखता हू
नाश से परे हैं वे   वे अरहर की पैनी–पैनी कलमे
प्यार की अथाह सागर हैं वे
क्यो कि मा हैं पहले
फिर बीबी भी हैं
वे सहोदरा भी हैं
वे बेटी हैं

किसी देश की
फूल है किसी उपवन की

वे खड़ी हैं खामोश
वह दीवार उन्हें अलग नहीं कर पाती
चाहे कोई भी देश हो
कोई भी प्रदेश या कोई भी इलाका
वे उन शहीदों की माँ हैं
मरते ईश्वर को वे जिन्दगी दे देती हैं
और–
जब ईश्वर मर ही जाता है
तो वे उसकी लाश को दफनाती हैं
उसके सिरहाने दो फूल रख कर
उसे अमर बना देती हैं

वे खड़ी हैं आज भी चुपचाप
ऐसे वृक्ष उन पर झुके हैं
उनमें व्याप्त हैं वृक्षों की जड़ें

वे [illegible] में आस्था रखती हैं
वे धरती की [illegible] हैं
वृक्षों की जड़ें हैं
[illegible] की पुकार हैं
वे [illegible] हैं वे

वे खड़ी हैं
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]

[illegible]

उनके बेटे हथेली पर पहाड़ भी उठा लेते हैं
सलीबो पर भी चढ़ जाते हैं
काल खिसयाना सा घूमता रहता है अपने
पहियो पर युग–युगो से

वे खडी है चुपचाप
पहिया घूमता है
घूमता रहता है अनवरत्
वे धुरी हैं उस पहिये कि
वे उस पर खड़ी होकर
हाथ हिलाती हैं आशा का

एक विश्वास और आस्था का फूल हमे सौंपती हैं
जो महकता रहता है सदैव

वे खड़ी हैं चुपचाप
प्रतीक्षा है उन्हे अनागत की
यह भूवृत्त अपूर्व है
यहा से वहाँ तक
ये नगर, गाव, इलाके
इन वृक्षो से—इन पशुओ से बँधे खड़े हैं
वे खड़ी है वहीं जहा काल चित्रलेखा सा खडा है
खड़े हैं वनरुख
करील/उपेक्षित डूगर/हट्टे–कट्टे लोग/चट्टान अजेय
पानी नोनखरा
आदमी के कद से दूना है बाजरा

वे जब मरती हैं
उनकी आखो से टपकता है एक आसू
जा मिलता है किसी नवयौवना की मुस्कान मे
धीरे–धीरे फैलता रहता है समूची पीढ़ी मे
वे सुबह की भरी–भरी सी आखे

वे एक सपूर्ण जीवन
जीवन जैसा जेठ सा तपा
साँसे जैसे अधड़ तूफान

वे खड़ी हैं
धवल चद्रिका सी
लोग जिन्दा हैं उन्हीं के लिए
लोग जिन्दा हैं उन्हीं के लिए।

यह शहर

यह शहर
मुझे खींचता है
अजगर सा
मैं डर जाता हूँ
इसे देखकर
इसके जबड़ो मे
फँसा है
सब कुछ
हिन्दू और मुसलमान
या कोई और नाम
धर्म और ईमान
सब कुछ
जकडा पडा है इसमे
सभ्यता और सस्कृति
की सीमाएँ भी

जबडा बढ़ता ही जाता है और
वह खींचे चला जा रहा है
अपनी साँस से तुफान को
तूफान
बवन्डर
भूचाल
सब भीतर पँहुच कर
गड्डमगड्ड हो जाते हैं
कहीं कुछ
दिखाई देता है
तो फकत
इतना ही
कि धरती अब
इस शहर
को
सिर पर उठाकर
चलने लगी है।

कुछ-कुछ निरगुन

कुछ-कुछ निरगुन
अभयपद गाते
मेरे शब्द
गैल-गैल
गाँव-गाँव

सचारित शक्तिमय
शब्द
मेरे

मेरे शब्द
त्रिकाली त्रिशूल
बेधते
धरती

उगती फसल
तब
नए-
होते
पुष्ट
मेरे शब्द

मेरा कवि
मेरी कविता
होती तभी सार्थक।

दिनचर्या

अक्सर—
जब मैं अपने अकेलेपन से ऊब जाता हू
तो घटो देखता रहता हू–
बाहर सरकते हुए रुई जैसे बादल
इन बादलो मे बनी हुई एक खिडकी
खिडकी मे बैठी हुई एक काली चिडिया

और फिर सोचता रहता हू
कि ये काली चिडिया भी
कितना तेज उड लेती है
उड़ कर हवा पकड लेती है
और एक नई हवा अपने पखो मे भरकर
नीचे से ऊपर
फिर उन्हीं बादलो मे छोड आती है

सोचते सोचते
जब सुबह के दस बजने लगते हैं
तो मैं याद करता हूँ
अपनी कमीज
अपना पैंट
अपना लिबास
अब मुझे अपने काम पर पहुचना है
लेकिन कमीज मे जब बटन नहीं होता
और पैंट मे सलवटे पड़ी होती है
तो अकारण अपने पर खीजने के सिवा
वहा कुछ नही बच पाता।

अक्सर
जब काम से लौट आता हू
तो लिखने लगता हू कविताए
कविताए अपने मटियाले चेहरे मे
अपनी उमर की रेखाओ से
मेरे अस्तित्व को ललकारती है
बडी उमर को भेद कर
मेरी उमर की पक्तियो मे शामिल हो जाती हैं।

और अक्सर
जब रात का धुधलका मुझ पर हावी होता है
और मेरे घर की सासे खरांटे भरती हैं
मैं उन्हे कान लगा कर सुनता हू
तब मुझे मेरा ज्ञान कचोटता है
यही वह स्थल है जहा से रोज
एक बीमार शहर मरता रहता है
और एक नया शहर
फिर से उगने लगता है हर रोज
कुकुरमुत्ता सा।

और इस बीच
मेरी दिनचर्या
अपने अनजाने मोड़ो से छूट कर
मिलती रहती है
जाने पहचाने फासलो पर
एक भयानक अजगर सा समय
मुझे खींचता रहता है निगल जाने को
और इस तरह
हर रात और हर दिन
गुजरता रहता है
एक दिनचर्या बन कर।

आज सुबह

फिर वही साँझ
वही
एक चादर
जो ढँक लेती है
पूरे शरीर को
तुतलाना
बद हो जाता है
सवाद
बनने लगते हैं और
अचानक
तभी
कोई गोली दगती है
धाँय धाँय
शरीर को
भेद जाती है।

हवा
कुछ देर
गरम हो जाती है
कुछ देर बाद फिर
ठंडक
महसूस होती है
अंधेरा
गहराने लगता है
पूरी रात
गुजर जाती है यूं ही।

फिर वही
सुबह
फिर वही शाम
तभी
कविता
झकझोर देती है मुझे
कहती है
साँस लेते रहो
पंजों पर उचकते रहो
हाथों पर, पाँवों पर, कंधों पर
वजन उठाते रहो
उठाते रहो
दोनों हाथों पर
पूरा आकाश।

हर क्षण

हर क्षण
गुजरते हैं
गुजर जाते हैं
रोज रोज
दूर और दूर होते जाते हैं लोग,
दिख जाते हैं फिर वहीं
रोज रोज यही इस शहर मे
हकीकत तो कोई और जाने
हमे याद आते हैं
वे क्षण
रोज रोज।

मुझसे चिपकती है
इस धरती की मिट्टी
रोज रोज
मुझसे पूछती हैं
खुशियाँ–खामोशिया
रोज रोज

अँधेरा ही अँधेरा है मेरे दोस्त
चारो ओर
पर क्या करु
भागने का आदी हू नहीं
हा गुनहगार हू
हमे याद आते वे क्षण
रोज़ रोज़

साझ के तले क्षण भर

लालटेन की थर-थर करती लौ
काले बार्डर की पीली सी
धोती पहने
पिछवाडे की बगिया मे
घुंघरू जैसी
साझ बज रही।

साझ बज रही
खपरैलो मे
वृक्षो के पत्ते-पत्ते मे
हाथ नचाती
ताली सी
साझ बज रही।

खेत-खेत अखुवाते गेहूँ
चना खड़ा है
बाँधे साफा
पोर गुलाबी
चिलम-तमाखू
गीत खुशी के

चूल्हे से सट कर बैठी है
चौके जैसी साझ बज रही
साझ बज रही।

मै पर एक दस्तक

मेरी यात्राओ से
चुकी नही राहे
मेरे कोपो से
टूटे नही पहाड
मेरे अहम् से
झुका नहीं ऊँचा आकाश
मेरी प्रार्थनाओ से
हिली नही पृथ्वी
मेरे उपायो से
मिटा नहीं दुःख
मैं फिर भी मैं हू
मै हूँ
कि मुझमे कोई आवाज़ है
जो बजती है कभी ढपली सी
तो कभी नगाडो सी और
डूब जाती हैं
इसी घाटी मे
और मैं निष्प्राण
उसे बटोरने की निष्फल चेष्टा मे
फिर किसी सडक को
नापने लगता हूँ
वे सड़कें भी
मुझे खींच ले जाती हैं
किसी परिचित अधकार मे
और फेक देती हैं मुझे
उसी झूठ के दहकते गोले मे
कि मैं उसी मे वर्तमान होकर
फिर किसी भविष्य की
कामना करने लगता हूँ
यद्यपि मैं हूँ और जानता हूँ
कि मैं हूँ उसी भविष्य मे
काठ सा जड
और कच्चे घड़ा सा
जो बार–बार
फूट कर भी
फिर से भर जाना चाहता है
किसी भविष्य के लिए।

सोचो, कुछ भी सोचो

सोचो कुछ भी सोचो
कुछ भी सोचो

सोचो
कटे हुए जगल
पृथ्वी के पाताल फ्रोड कुँए सूखे

सोचो
जलता हुआ एक शहर
छितरी बिखरी तमाम लाशे

सोचो
चाहे कुछ सोचो
क्या पता सोचने से कोई खुदा मिल जाए

सोचो
चाहे कुछ भी सोचो
तुम्हारे सोचने से अकाल की मार कम नही होगी
अकाल से अब आदमी मरेगा भी नही

सोचो
उन बादलो के बारे मे
जो अब बरसते नही
और पानी की प्यास बढ़ती ही जाती है

सोचो
उन बादलो के बारे मे भी
जो कभी बरस जाते थे
दो जून रोटी का जुगाड़ सध जाता था

सोचो
कुछ भी सोचो
सघर्ष कौशल काशी और पाचाल तक
ही सीमित नहीं है
सघर्ष का मैदान अब दुर्योधन के साथ है
सोचो क्या इनसे रोटी छीनना आसान होगा ?

सोचो
एक अदद गोली
और एक अदद भूखी आग

कुछ भी सोचो
घर मे अब कोई बचा नही है
राम निपट सत्य सय और करुणामय नही हैं
सागर पर अब खेलती नहीं हैं लहरे
फूलो की सासो मे सुगन्ध नही है

तुम कुछ भी सोचो
यह शहर बढ़ गया है अब बहुत आगे
हवा हो गई वह बूढ़ी आवाज सहसा
और खडे हो गये ऊँचे–ऊँचे पहाड से वे
मेरे चारो ओर
और मैं
पतझर से टूटा पत्ता
फुनगी पर अटका पडा हूँ तनिक
चुपचाप निहारता अपना वह सब कुछ
लो वह गिरा
वह अटका एक हुआ आसू
और बढ़ा जा रहा वह शहर आगे आगे
सोचो कुछ भी सोचो।

कोई अर्थ होता है

लोग अर्थ जानना चाहते है
बूढ़े बरगद की दाढ़ी का
और
जमीन की उपजाऊ प्रकृति का
और वह भी
कि बद मकान मे किसी
बोलती आवाज का भी कोई अर्थ होता है।
और क्या
लावारिस सडको मे
घसते हुए
कदमो का कोई अर्थ होता है ?

हजार हजार आँखे–
जलती हुई उगलिया
भिची हुई मुट्ठिया
म्यान से निकलती तलवार से
बोलते शब्द का
कोई अर्थ होता है ?

कोई तो अर्थ होता होगा
सम्बन्धो का
ठिठुरन भरी रातो मे
बतियाने का
कोई तो अर्थ होता है
कोई तो अर्थ होता होगा
होता होगा।

एक और सुबह की तलाश में

वे सूघते हुए बढ़ रहे थे खोजो पर खोज रखते हुए ।
चुप्पी तोड़ मैंने
उनमे घुसने की कोशिश की ।
उन्होंने कनखियों से देखा फिर निगाह सीधी करते हुए
कहा, 'पहले उगली तो जलाओ, मैं
अपने बद कपाट से उगली दिखाने लगा ।

वे तो वे ही है
उन्होने मेरे कधे को हिलाया, मेरे पैरो पर
भारी बोझा डालने की कोशिश की
मैंने धीरे से उनका हाथ हटा लेना चाहा
लेकिन जैसे ही मुड कर देखा–
उनकी उगलियो पर बघनख चढ़ा था ।

अब चारो तरफ नजर घुमाने की मैंने कोशिश की–
दूर दूर तक
वहाँ फटे उजाले के कुछ धब्बो के सिवाय
कुछ भी नही था । उनके हाथो मे थे
शीत लहर के रुक्के
पैरो मे भारी भरकम बेड़िया
पेट मे लम्बी चौडी खाइया खुद रहीं थी
और छाती पर चित्रित था कूडे का ढेर ।

जैसे–तैसे मैंने गर्दन उठाई
पैर फैलाए
आखो पर चढ़ी ढीड निकाल आखे खोलने की कोशिश की
देखा–ऊपर छत नही थी ।
और खुजली पेट मे थी । पजे जमीन पर

मैंने सोचा, आखिर कहा तक
कहा तक चल सकोगे ?

वे मुझे काख मे दबाए उफन रहे थे
उनकी जलती आखे केन्द्रित थीं–
मैं हताश उनकी गिरफ्त मे था
एक और सुबह की तलाश मे ।

कौन है ये लोग ?

कौन हैं ये लोग
जो बनी तस्वीर को फाड़ कर
सिर्फ खिलखिला कर हस देते हैं
गद्दिया झाड़ कर लेट जाते हैं

बूढ़ा हवलदार तब अपनी बीडी बुझाता है
बुझी बीडी कान मे खोसता हुआ कहता है –
ये तुम्हारे पिता हैं
तुम्हारी जमीन है
जमीन ।

कौन हैं ये लोग
जो चीरते हैं रात का सन्नाटा
हवा मे घोल देते हैं ज़हर
जो खून के साथ कैद
देह से फूट कर रिसता रहता है
कभी आखा के इर्द-गिर्द
कभी कलेजे की भीतर

मेरे गाव की घन्नो दादी तुरन्त अपनी
लाठी सभाल लेती है
अपनी लम्बी उम्र के साथ

एक लम्बी आवाज़ मे उठाती है टेक
ये हमारे राजा हैं
रजधानी मे बैठ कर करते हैं राज
कित्ते बडे आदमी हैं ये ।

तभी राह से गुजरता हुआ
हमारे कालिज का छोकरा–
उसे डाट देता हैं
उसकी लाठी खींच कर दूर ले जाता है
चुप रह डोकरी ।
राजा प्रजा अब नहीं रहे
ये तो मौसम के झडे है
जो फहराते हैं सम्मान के साथ
बडे बडे भवनो मे
बडी बडी आलीशान कोठियो मे ।

लेकिन मुझे यही चिता है
कि मैं इनका ही अन्न खाता हूँ
इस अन्न के अनुबधो का अनुमोदन लेने
रोज़ इन्ही मे आता हू
पडौस की बैच पर बैठ कर इन्हीं के साथ
इनकी मुस्कराहट की नकल करता हू
लेकिन जानबूझ कर भी दूसरे कोने मे चुपचाप
हाथ झाड पूछता रहता हू–
कौन हैं ये लोग ?

कैसा आया है यह वक्त

कैसा आया है
यह वक्त
हर क्षण
रोपता रहता है
थोथा चना

वह हवा पुरवाई
बजाती
सूखी खाल
ढपली सी
मुर्दा साप भी
फन उठा लेता है तब

कैसा आया है
यह वक्त
एक लम्बा हेला सा
उठता रहता है निरन्तर
खाटों के पाये भी
अपने कानो से रुई निकाल लेते हैं
उस वक्त

विषधर भी पाव ले लेते हैं
भिड़न्त के वक्त
और श्वास का कुल्ला
बधाए नही बँधता
कैसा आया है
यह वक्त

वरणीय सबंध
विषबुझे
चाकू से परस्पर
घुस जाते हैं
सीधे
तीर की तरह
एक दूसरे मे

कैसा आया है
यह वक्त
हर क्षण
शब्द शूल
उठता रहता है
हरहराती हडफूटन से
टूट टूट जाती है देह
और मुर्दासन जमाए
बैठी रहती है
प्रतिष्ठा भयभीत

कैसा आया है
यह वक्त
मुख हठीला
घूरता रहता है
सूना आकाश
न सब्जी है
न आटा है
पतीली रीती रहती है
सदैव

लकडिया मुँह फुलाए गीली की गीली
खडी रहती हैं
अग्निमुख पर
प्रतीक्षा रत

तनिक बढ़ता हूँ
आगे और आगे की ओर
देता हू दस्तक वक्त के माथे पर
और वक्त ककाल सा
कापता बढ़ता है
मेरी तरफ
मुझे अगूठा दिखाता है
और थूक देता है
साल दर साल
मेरे मुँह पर
'लो सँभालो तुम्हारी जवानी'
वे साल दर साल
गबरूई हठीले
फैल जाते हैं
मुझ मे तब

और उस वक्त
एक और उठता है हेला—
'अरे गैल बना
नाम चाहे जो
रख लेना
गैल तो, पावो से ही
बनेगी।

हमने देखा है अजब तमाशा

हमने देखा है एक अजब तमाशा
कि कुत्ते बोलने लगे है आदमी की भाषा
मैंने देखा है सागर को सूखा
मैंने देखा है आदमी को भूखा
मैंने देखी है जिन्दगी की हरकत
मैंने देखी है कुत्ते की पूछ टेढ़ी ही टेढ़ी
मैंने देखा है उसे पूछ उठाते हुए
मैंने देखा है उसे तलुए चाटते हुए
मैंने देखा है उसे गुर्राते हुए
और देखा है वक्त पर भागते हुए

हालाकि यह सब खेल तमाशा है
हालाकि यह सब भरोसा है
हालाकि यह एक नाटक का परदा है
हालाकि यह एक इश्तहार है
कि एक कोने की आग को हम बुझा नही पाते
और आग इतनी वीर कि वह बुझने को तैयार नहीं

हमने देखा है एक अजब तमाशा
कि जल है पर मछलिया मृत हैं
जीव जन्तुओ के कंकाल लड रहे हैं लडाई
हमने देखा है कि सब कबीर जमीन मे फस कर
सब राम परदे पर आकृतिवान् बनकर
सारे रहीम बगले झाकते हैं
और आग जोर पकड जाती है
जलाती है तमाम जोर और कमजोर
जलाती है जिन्दगी की आखिरी शाम
हमने देखा है आज अजब तमाशा
हमने देखा है आज एक अजब तमाशा।

उठा नया गोवर्द्धन !

उठा हाथ
　　उठा
　　उठा ऊँचे
　　और ऊँचे ।
उठा
गोवर्द्धन
　　लगा टेक
　　उठा ऊँचे
　　समय सूत्रधार है
नहीं के बोल
डूबेंगे
　　गहरे महासागर में ।
और यहीं से
होगा आरम्भ
किसी
　　नई शिक्षा का ।
उठा
नये शब्द
नये पन्ने
　　आकाशोन्मुख ऊँचे ।
यहीं से चलेंगे
नये पाँव
चढ़ना और उतरना भी
यहीं से
　　यहीं से अन्त तक
　　आरोहण नयी–नयी मंजिलों के लिये ।
　　उठा
　　अब
　　उठा
　　नया गोवर्द्धन ॥

अब तो दिन है

अब तो दिन है
दिन है
भयभीत करने लगता है
यह दिन ऊँघता हुआ

अब तो दिन है
दरख्तों से गिरे सूखे पत्तों की तरह।

अब तो दिन है

पूरा का पूरा दिन
काटने लगता है
अकेलेपन की मजबूरी
गुनगुनाता है धीरे-धीरे
कुछ बीत जाने का सफर।

अब तो दिन है

सिहरन होने लगती है तब
उन्हीं चेहरों पर टिक जाती हैं आँखें सहसा।

वे आँखें
आज भी मेरी आँखों के कोरों में
बैठी हैं सदियों से
वे सहसा चमक उठती हैं
फिर उन्हीं आँखों की आवाजों में फड़फड़ाता रहता है यह दिन।

अब तो दिन है फकत
गुजर जाने के लिए
फँस जाने के लिए
भूल जाने के लिए
पूरा दिन।

इतिहास के साथ

पहले भी साँचे मे पाँव रखकर
सौन्दर्य चलता था
छोटे पावो के रूप पर निहाल थे
श्रीमत

इतिहास की रफ्तार मे
साँचा बदला नहीं
बहुत चला तो पाव से सिर तक
पहुचा
बुद्धि पर लोहा चढ़ा
लोहे के साचो मे ढलने लगी
आत्मा

कहते हैं समय बदल रहा है
पर यह कहावत गलत है एकदम
समय कोई वस्तु है
जो बदल कर दूसरी आकृति बन जाए।
सभी एक सा आलू खाये
स्लाइस कुतरे
गुलाब सूँघे

किसी की दी हुई किताबो
या सवालो के खदको मे
मोर्चा बाँधकर
नीचे उतरे
खिड़की से नीचे या ऊपर के आसमान
से परे
कोई आसमान न देखें

यह कविता आपके लिए है
आपके दिमाग के लिए है
और हमारे मुल्क के लिए है
जो साथ-साथ चलने मे भी कतरा रहे हैं
यह शब्द उन सभी के लिए है

हर तरफ जब अँधेरा है
तो ऊपर गुफा की छत से टकराने से
डरकर
नीचे रिसते पानी में
घुटनों तक डूबे
खिसक रहे हो किसलिए ?
और जब नीचे कपड़े पकड़ने की जिद
चल रही है तब
ऐसे माहौल में
उजली मुस्कानों पर
कागज का सूरज कब तक
चिपकाते रहोगे

यह कविता आपके लिए है
इतिहास की रफ्तार के साथ
यह कविता आपके लिए है।

बोलो, बोलो धरती मेरी

तेरा वक्ष विशाल
हरीतिमा चारो ओर
अजस्त्र धार से
धुलता तेरा आँगन

फिर कैसा यह
ऋतु परिवर्तन
कहाँ खो गई
मानवता की धूप अचानक

सुलग रही क्यो
धरती
क्षण क्षण

बोलो
बोलो
कुछ तो बोलो
इस धरती के अग्रज
कुछ तो बोलो
कहाँ खो गई
अस्मिता
हमारी

हम थे वे
वे हो गए पराये
प्रश्न हमारा अभी अनुत्तर
खून चढ़ा है
आँखो मे क्यो ?

नहीं, अभी नहीं

नहीं– मैं अभी नहीं जाऊँगा
अभी तो आया हूँ
अभी तो कई काम पूरे करने हैं
अभी तो चिट्ठियाँ लिखनी है कुशलता की
आडी तिरछी रेखाएँ खींचनी हैं जमीन पर।

अभी तो पहाड़ पर चढ़ना है
शिखर पर पँहुचकर देखना है दुनिया को
और लम्बी तानकर खर्राटे भरना है
बालू मे घरोंदे बनाकर देर तक हँसते रहना है।

इसलिए सब कुछ देखना है
चारो तरफ फैली आग से सब बचाना है
लोगों मे फैली उदासी मे मुस्कराहट लाना है
अभी तो सडक पर खूब चलना है।

अपनी नदी के उफान को रोककर उसे नदी बनाना है
उन खोई हुई बुलबुलो को फिर से बुलाना है
मयूरो के नृत्यो से प्रकृति को खूब सजाना है
अपने बूढ़े पिता के लिए एक बेंत खरीदना है
अभी तो कई काम पूरे करना है।

नहीं–मैं अभी नहीं जाऊँगा।

चद्रभानु भारद्वाज

जन्म 12 मार्च, 1935 – राजस्थान के पूर्वा
भरतपुर मे ।

प्रारम्भिक शिक्षा भूतपूर्व रियासत के एक मात्र
स्कूल महाराजा बदनसिंह प्रिप्रेयटरी स्कूल मे ।
शिक्षा एम ए, एम लिब साइ स, पत्रकारिता
सूचना विज्ञान मे विशेपज्ञता ।

1952 मे विद्यार्थीयो की एक मात्र राष्ट्रीय मु
पत्रिका 'लालिमा' के प्रकाशन / सपादन से पत्र
में प्रवेश । 1960 से दजनो साप्ताहिक, पाक्षि
मासिक पत्र पत्रिकाओ का सपादन, 1964 से
समसामयिक साहित्य की अग्रणी पत्रिका 'सप्रे
सपादन । अब 'ओर' के सपादन से सम्बद्ध ।
कवि ।

1976 से राजस्थान विश्वविद्यालय के पत्राचा
पाठ्यक्रम में शिक्षण, 1981 से 85 तक आर्य
कन्या महाविद्यालय, मुसावर में विभागाध्यक्ष
प्राचार्य ।

सम्प्रति स्वतत्र लेखन । कृतियाँ 'विसपद
'कल कहा था किसी ने', 'खून बजता है हवा
(कविता) । कविता अनुवाद 'स्नेह डैने' (अ
उपन्यास शेष वसन्त । कहानी शेप अशेष,
बाल साहित्य हम सब एक हैं, एकता में अने
ललित निबन्ध रूप अरूप ।

पता 751, मिश्रराजाजी का रास्ता,
जयपुर-302 001